भारत में आश्रम प्रणाली

हिन्दू सामाजिक संगठन की दूसरी महत्वपूर्ण संस्था आश्रमों की है जो वर्ण के साथ सम्बन्धित है । आश्रम मनुष्य के प्रशिक्षण की समस्या से सम्बद्ध है जो संसार की सामाजिक विचारधारा के सम्पूर्ण इतिहास में अद्‌वितीय है । हिन्दू व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य का जीवन एक प्रकार के प्रशिक्षण तथा आत्मानुशासन का है ।इस प्रशिक्षण के दौरान उसे चार चरणों से होकर गुजरना पड़ता है । ये प्रशिक्षण की चार अवस्थायें हैं ।

मूलत: आश्रम जीवन की यात्रा में एक विश्राम स्थल का कार्य करते हैं, जहाँ आगे की यात्रा के लिये तैयारी की जाती है । जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है । आश्रम व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक-नैतिक आधार पुरुषार्थ हैं जो आश्रमों के माध्यम से व्यक्ति को समाज के साथ सम्बद्ध कर उसकी व्यवस्था तथा संचालन में सहायता प्रदान करते हैं । एक ओर जहाँ मनुष्य आश्रमों के माध्यम से जीवन में पुरुषार्थों के उपयोग करने का मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त करता है तो दूसरी ओर व्यवहार में वह समाज के प्रति इनके अनुसार जीवनयापन करता हुआ अपने कर्तव्यों को पूरा करता है ।

प्रत्येक आश्रम जीवन की एक अवस्था है जिसमें रहकर व्यक्ति एक निश्चित अवधि तक प्रशिक्षण प्राप्त करता है ।उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में हम आश्रमों का यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त करते हैं । ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तीरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में इनका उल्लेख है । ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रमों की कल्पना उपनिषद् काल में ही हो चुकी थी किन्तु सूत्रकाल तक आते-आते यह व्यवस्था समाज में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गयी । स्मृतिकाल में विभिन्न आश्रमों के विधि-विधान निर्धारित किये गये । लगता है कि चारों आश्रमों का विधान भी एक साथ नहीं हुआ होगा ।

सूत्रकाल तक समाज में आश्रम व्यवस्था पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुकी थी ।

स्मृतिकाल में विभिन्न आश्रमों के नियम निर्धारित किये गये। ए. एल. बाशम की धारणा है कि हिंदू समाज में आश्रम आदर्श रूप में थे तथा व्यवहार में इनका पालन कम ही हुआ। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखता है कि- 'राजा का यह कर्तव्य है कि वह प्रजा से वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करवाये। इनके उल्लंघन से समाज में अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है तथा संसार का नाश होता है। वर्णाश्रम नियमों के पालन से संसार की उन्नति होती है।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्णाश्रम धर्म का आचरण न केवल समाज में संतुलन बनाये रखने, अपितु उसकी उन्नति के लिये भी अभीष्ट था। पूर्वमध्यकाल तक आते-आते हम इसमें कुछ परिवर्तन पाते हैं। शंकर तथा रामानुज दोनों ने इस बात का उल्लेख किया है कि साधनों के अभाव तथा निर्धनता के कारण अधिकांश व्यक्ति आश्रम व्यवस्था का पालन नहीं कर पाते थे। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन इतिहास के अन्तिम काल तक आते-आते यह व्यवस्था कुछ विशेष कुलों तक ही सीमित रह गयी थी।

आश्रमों का पुरुषार्थों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। ब्रह्मचर्य में धर्म प्रमुख रहता है। गृहस्थाश्रम में अर्थ तथा काम प्रधान साध्य होते हैं। वानप्रस्थ में धर्म तथा मोक्ष साध्य होते हैं और प्रथम स्थान धर्म का रहता है।सन्यास आश्रम में मोक्ष एकमात्र साध्य होता है तथा धर्म इसी में विलीन हो जाता है। वस्तुतः मोक्ष को प्रत्येक आश्रम में जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रथम आश्रम में समाज व्यक्ति की देखभाल करता है जबकि द्वितीय अवस्था में व्यक्ति समाज की देख-भाल करता है। तृतीय अवस्था में व्यक्ति की स्थिति परिवार तथा समाज के सलाहकार के रूप में मानी जाती है। अन्तिम आश्रम संन्यास में व्यक्ति का समाज के प्रति दायित्व बिल्कुल समाप्त हो जाता है।हिन्दू धर्मशास्त्र मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानते हैं तथा प्रत्येक आश्रम के निमित्त पच्चीस-पच्चीस वर्ष की अवधि निर्धारित करते हैं।

1. ब्रह्मचर्य आश्रम:

यह प्रथम आश्रम है जिसका अर्थ है- 'ब्रह्म के मार्ग पर चलना ।' यह विद्याध्ययन का काल है जिसका प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है । बालक गुरु के समीप रहकर अध्ययन करता है । वहाँ उसकी दिनचर्या अत्यन्त कठोर एवं पवित्र होती थी । प्राचीन ग्रन्थों में ब्रह्मचारी के जीवन का वर्णन मिलता है ।वह सदाचार एवं सच्चरित्रता का पालन करता था । उसका पूरा जीवन साधना का जीवन था ।

महाभारत में वर्णन मिलता है कि ब्रह्मचारी का जीवन सभी धर्मों में श्रेष्ठ तथा आदर युक्त होता है जिसका अनुसरण करने वाले परमपद को प्राप्त करते हैं । अर्थशास्त्र में ब्रह्मचारी के कर्तव्य 'वेदाध्ययन, अग्नि अभिषेक, भिक्षावृत्ति बताया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय 'समावर्तन' नामक संस्कार सम्पन्न होता था । इस समय तक वह पच्चीस वर्ष की आयु पूरी कर लेता था ।ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने की अवधि प्रायः बारह वर्ष तक मानी जाती थी

2. गृहस्थाश्रम:

ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था जिसकी अवधि 25 वर्ष से लेकर 50 वर्ष के लगभग तक मानी गयी है । प्राचीन ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम की काफी प्रशंसा की गयी है तथा इसे सभी आश्रमों का स्रोत बताया गया है ।

इसी आश्रम में रहकर मनुष्य त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ एवं काम का एक साथ उपयोग करते हुए मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनता है । मनुस्मृति में कहा गया है कि जिस प्रकार सभी प्राणी वायु के सहारे जीवित रहते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम के सहारे जीवन प्राप्त करते हैं । तीनों आश्रमों का भारवहन करने के कारण यह श्रेष्ठ हैं ।यहाँ रहते हुए मनुष्य अपने तथा परिवार के भरण-पोषण के निमित्त धर्मानुकूल अर्थसंग्रह करता था ।

अर्थशास्त्र में गृहस्थ के निम्नलिखित कर्तव्य बताये गये हैं:

(i) अपने धर्म के अनुकूल जीविकोपार्जन करना ।

(ii) विधिपूर्वक विवाह करना ।

(iii) अपनी विवाहिता पत्नी से ही सम्पर्क रखना ।

(iv) देवताओं, पितरों, भृत्यों आदि को खिलाने के वाद बचे हुए अन्न को ग्रहण करना ।

मनुस्मृति में गृहस्थ के दस धर्मों का उल्लेख मिलता है, अर्थात् धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य तथा क्रोध न करना । यथाशक्ति दान देना तथा आये हुए अतिथि का सत्कार करना भी उसके कर्तव्य थे ।

गृहस्थाश्रम में मनुष्य को विभिन्न संस्कारों का अनुष्ठान करना पड़ता था जो जन्म से लेकर मृत्यु तक चलते थे । विवाह संस्कार के साथ उसका गृहस्थाश्रम में पदार्पण होता था तथा तत्पश्चात् वह अन्य संस्कारों को सम्पन्न करता था । इसी आश्रम में मनुष्य तीन ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता था जिनका विधान धर्मग्रन्थों में हुआ है ।

ये ऋण हैं:
(a) देव ऋण- ऐसी मान्यता थी कि व्यक्ति के जन्म के समय उसके ऊपर देवी-देवताओं की महती कृपा रहती है, अत: उसका कर्त्तव्य है कि वह देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करें । इससे मुक्ति तमी संभव थी जब मनुष्य यथाशक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करें ।

(b) ऋषि ऋण- विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करने से ऋषि ऋण से मुक्ति मिल जाती थी ।

(c) पितृ ऋण- धर्मानुसार सन्तानोत्पन्न करके व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्ति पाता था

पंच महायज्ञः
गृहस्थाश्रम में रहते हुए मनुष्य को पाँच महायज्ञों का भी अनुष्ठान करना पड़ता था ये यज्ञ लौकिक तथा पारलौकिक सुख एवं शान्ति के लिये आवश्यक माने गये थे ।

ब्रह्म यज्ञः पितृ यज्ञःदेव यज्ञः भूत यज्ञःमनुष्य यज्ञः
इस प्रकार तीन ऋण तथा पाँच महायज्ञ गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति को लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्रदान करने वाले थे । इनके माध्यम से व्यक्ति वैयक्तिक उन्नति तो करता ही था, साथ ही साथ वह समाज के प्रति अपने दायित्वों का भी धर्मपूर्वक निर्वाह करता था ।

3. वानप्रस्थ आश्रमः
गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को भली-भांति पूरा कर लेने के उपरान्त मनुष्य वानप्रस्थ में प्रवेश करता था । वह अपने कुल, गृह तथा ग्राम को छोड़कर वन में जाता तथा वहाँ निवास करते हुए अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित करता था । मनुस्मृति में कहा गया है कि जब मनुष्य के सिर के बाल सफेद होने लगे, उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जायें तथा वह पौत्रों का मुंह देख ले तब उसे वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए । वह मृगचर्म अथवा वृक्ष की छाल पहनता था, पेड़ के नीचे भूमि तल पर शयन करता था ।

उसे समस्त भौतिक सुखों का त्याग करना पड़ता था । यहाँ पर उसे पंच महायज्ञों का अनुष्ठान करना होता था । उसका समय वेदों, उपनिषदों आदि के अध्ययन तथा तपस्या करने में व्यतीत होता था । इस प्रकार जीवन यापन करने से उसके शरीर की शुद्धि तथा आत्मा का उत्कर्ष होता था ।

वह कायाक्लेश का जीवन व्यतीत करता हुआ धीरे-धीरे अपने चित्त को सांसारिक मोह जाल से हटाता तथा अन्ततोगत्वा अपने को पूर्णतया निर्लिप्त कर लेता था ।
वानप्रस्थ आश्रम की आयु प्रायः पचास से पचहत्तर वर्ष की होती थी । शास्त्रोक्त

विधि से इसके नियमों का पालन करते हुए यदि व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी तब भी वह मोक्ष को प्राप्त होता था ।

4. सन्यास आश्रम:
यदि मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम को सफलतापूर्वक पार कर लेता और जीवित बच जता था तो वह अन्तिम आश्रम सन्यास में प्रवेश करता था । सन्यास आश्रम का मूल लक्ष्य परम पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता था । इस अवस्था में व्यक्ति पूर्णतया निर्लिप्त होकर अपना मन परमात्मा के चिन्तन में लगाता था । वह अपने पास कुछ भी नहीं रखता था तथा समस्त रागद्वेष, मोहमाया आदि से विरत होकर एकाकी भ्रमण करता था ।

अपने निर्वाह के लिये वह दिन में मात्र एक बार भिक्षा माँग सकता था । उसे अपनी इन्द्रियों पर कठोर नियंत्रण रखना पड़ता था । इसके लिये समभाव होना, किसी प्राणी से कभी द्वेष न करना तथा काम, क्रोध, लोभादि कुप्रवृत्तियों का पूर्णतया त्याग कर देना अनिवार्य था ।

इस प्रकार कठोर तपस्या एवं कायाक्लेश का जीवन व्यतीत करते हुए सन्यासी के समस्त पाप नष्ट हो जाते थे तथा वह परमपद को प्राप्त कर लेता था । प्राचीन भारतीय समाज में सन्यासियों का बड़ा ही सम्मान था कुछ भारतीय सन्यासियों थे अपनी ज्ञान-शक्ति से सिकन्दर को भी प्रभावित किया था । भारतीय समाज में सन्यासी प्रायः ब्राह्मण वर्ग के ही होते थे । सन्यास आश्रम की अवधि प्रायः पचहत्तर वर्ष से सौ वर्ष तक मानी गयी थी ।

व्यक्ति के भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग इन आश्रमों द्वारा प्रशस्त होता था जहाँ प्राप्त प्रशिक्षण के आधार पर व्यक्ति अपने जीवन में आचरण करता था । अत: यह उचित ही कहा गया है कि आश्रम मानव जीवन की पाठशालायें हैं ।

आश्रमों के ही माध्यम से व्यक्ति अपने सामाजिक कर्तव्यों के विषय में जानकारी प्राप्त करता था तथा व्यावहारिक जीवन में तदनुसार आचरण करता था । पुरुषार्थों का संतुलित एवं नियंत्रित उपभोग करते हुए वह समाज का उपयोगी सदस्य बन जाता था । हिन्दू जीवन पद्धति की यह अपनी व्यवस्था थी जो विश्व के किसी अन्य देशों के समाज में दुष्प्राप्य है ।